

सम्पादकीय

अक्षम्य अपराध

अगाध पाण्डित्य के धनी मुनिराज श्रुतसागर ने जब बलि आदि मंत्रियों से हुए विवाद का समाचार सुनाया तो आचार्य अकंपन एकदम गम्भीर हो गये। जगत की प्रवृत्तियों से भलीभाँति परिचित आचार्यश्री के मुखमण्डल पर अनिष्ट की आशंका के चिह्न छिपे न रह सके। यद्यपि जबान से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा; तथापि उनका मनोगत अव्यक्त नहीं रहा। **सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।**

यद्यपि कोई कुछ बोल नहीं रहा था; तथापि गम्भीर मौन पूरी तरह मुखरित था। शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझने वाले चाहिये।

चेहरे के भावों से ही मनोगत पढ़ लेने वाले श्रुतज्ञ श्रुतसागर को स्थिति की गम्भीरता समझते देर न लगी। आचार्यश्री के चिन्तित मुखमण्डल ने उन्हें भीतर से मथ डाला था; अतः वे अधिक देर तक चुप न रह सके।

“अपराध क्षमा हो पूज्यपाद ! अविवेकी अपराधी के लिए क्या प्रायश्चित है? आज्ञा कीजिये।”

“बात प्रायश्चित की नहीं, संघ की सुरक्षा की है। ऐसा कौनसा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो। जब मार्दव धर्म के धनी श्रुतसागर से भी दिगम्बरत्व का अपमान न सहा गया तो फिर मार्दव धर्म का नाम भी न जाननेवालों से क्या अपेक्षा की जा सकती है?”

मानभंग की पीड़ा उन्हें चैन न लेने देगी। अपमानित मानी व्यक्ति क्रोधित भुजंग एवं क्षुतातुर मृगराज से भी अधिक दुःसाहसी हो जाता है। आज संघ खतरे में है।” कहते-कहते आचार्यश्री और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आचार्य अकंपन की गुरुतर गम्भीरता देख श्रुतसागर अन्दर से हिल गये।

वे जिसे अपनी विजय समझ रहे थे, वह अकंपन को भी कंपा देने वाला अक्षम्य अपराध था - इसका अहसास उन्हें गहराई से हो रहा था। वे स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि आचार्यश्री का अन्तर प्रतिदिन की भाँति प्रायश्चित्त निश्चित करने में व्यस्त नहीं, अपितु संघ की सुरक्षा की करुणा में विगलित हो रहा है। प्रत्युत्पन्नमति श्रुतसागर को निर्णय पर पहुँचने में अधिक देर न लगी और वे आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हो बोले -

“इस नादान के अविवेक का परिणाम संघ नहीं भोगेगा। मैं आज उसी स्थान पर रात्रि बिताऊँगा, जहाँ बलि आदि मंत्रियों से मेरा विवाद हुआ था - इसके लिए आचार्यश्री की आज्ञा चाहता हूँ।”

“नहीं, यह सम्भव नहीं है। परिणाम की दृष्टि से यह अपराध कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर इसमें तुम्हारा धर्मप्रेम ही कारण रहा है। दिगम्बरत्व के अपमान ने तुम्हें उद्वेलित कर दिया और फिर तुम्हें हमारी उस आज्ञा का पता भी तो नहीं था; जिसमें सभी संघ को मौन रहने का आदेश था, विशेषकर मंत्रियों से किसी भी प्रकार की चर्चा करने का निषेध था। अतः तुम्हें इतना कठोर प्रायश्चित्त देना मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता।”

“पूज्यवर! सवाल प्रायश्चित्त का नहीं, संघ की सुरक्षा का है। आपने ही तो हमें सिखाया है कि अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।”

“श्रुतसागर के जीवन का मूल्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ।”

“कोई भी इतना मूल्यवान नहीं हो सकता कि जिसपर संघ को न्यौछावर किया जा सके। हम आपके इस आप्तवाक्य को कैसे भूल सकते हैं कि अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।”

“जानते हो श्रुतसागर लाखों में एक होता है? समाज को उसका मूल्य आंकना चाहिये।”

“साधु सामाजिक मर्यादाओं से परे होते हैं। साधु को श्रुत के सागर से

संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है। मैंने वाणी के संयम को तोड़ा है। मौनव्रती साधकों की महानता को वाचाल साधक नहीं पहुँच सकता। मैंने आपकी आज्ञा को भंग किया है। मेरा अपराध अक्षम्य है।”

“पर तुम्हें मेरी आज्ञा का पता ही कहाँ था?”

“पर श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना चाहिए था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे। मेरा यह अविवेक तो युग के अन्त तक याद किया ही जायेगा, पर मुझे यह सह्य नहीं है कि इतिहास यह भी कहे कि प्रियतम शिष्य के व्यामोह ने आचार्य अकंपन को भी अकंपन न रहने दिया था।

मुझसे जो कुछ भी हुआ सो हुआ, पर मैं अपने गुरु की गुरुता को खण्डित नहीं होने दूँगा। आचार्यश्री को मेरे इस हठ को पूरा करना ही होगा।”

आचार्य अकंपन और भी गम्भीर हो गये। उनके गम्भीर मौन को सम्मति का लक्षण जानकर श्रुतसागर उनके चरणों में झुके, नमोऽस्तु किया और मंगल आशीर्वाद की मौन याचना करने लगे।

आचार्य अकंपन ने काँपते हुए हाथ से श्रुतसागर को आशीर्वाद देते हुए कहा - “मैंने यह सोचा भी न था कि जिसे मैंने एक दिन सम्पूर्ण संघ के समक्ष ‘श्रुतसागर’ की उपाधि से अलंकृत किया था, उसे किसी दिन इतना कठोर प्रायश्चित्त देना होगा।

प्रिय श्रुतसागर! तुम ज्ञान की परीक्षा में तो अनेक बार उत्तीर्ण हुए हो, आज तुम्हारे ध्यान की परीक्षा है; जीवन का रहने न रहना तो क्रमबद्ध के अनुसार ही होगा, पर मैं तुम्हारे आत्मध्यान की स्थिरता की मंगल कामना करता हूँ। दूसरों को तो तुमने अनेक बार जीता है। जाओ, अब एक बार अपने को भी जीतो।”

- कहते-कहते आचार्य अकंपन और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आज्ञा शिरोधार्य कर जाते हुए श्रुतसागर को वे तबतक देखते रहे, जबतक कि वे दृष्टि से ओझल न हो गये।

सम्पादकीय -

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

१५९ से १६३ तक की गाथाओं के सारांश को प्रस्तुत करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं -

“गाथा १५९ में कहा है कि भगवान निश्चय से स्व को जानते हैं; क्योंकि वे उसमें तन्मय होकर जानते हैं तथा पर में तन्मय हुए बिना जानते हैं; इसलिये पर को व्यवहार से जानते हैं। गाथा १६० में कहा है कि केवली भगवान के एक समय में ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग होते हैं।

गाथा १६१ में कहा है कि ज्ञान पर को प्रकाशता है और दर्शन स्व को प्रकाशता है - इसप्रकार आत्मा को स्वप्रकाशक कहें तो विरोध आता है।

गाथा १६३ में कहते हैं कि आत्मा केवल परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न ठहरे; क्योंकि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार दर्शन स्व को देखता है, पर को नहीं देखता; इसलिये उसमें विरोध आता है।

गाथा १६२ में ज्ञान को एकान्त से परप्रकाशक मानने पर ज्ञान व दर्शन दोनों भिन्न ठहरते हैं - यह बताया है और इस १६३वीं गाथा में आत्मा को परप्रकाशक मानने पर आत्मा और दर्शन दोनों भिन्न ठहरते हैं - यह बताया है - इसप्रकार प्रत्येक गाथा में विषय की भिन्नता है।”

इसप्रकार स्वामीजी ने शुद्धोपयोग अधिकार की आरंभिक पाँच गाथाओं की विषयवस्तु को समझने की सुविधा के लिए गाथाओं के अनुसार संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है।

नियमसार गाथा १६३

इस गाथा में भी विगत गाथा में प्रतिपादित विषय को ही आगे बढ़ाया जा रहा है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६३॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८५

(हरिगीत)

पर का प्रकाशक आत्म तो दृग भिन्न होगा आत्म से।

पर को न देखे दर्श - ऐसा कहा तुमने पूर्व में ॥१६३॥

यदि आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत अर्थात् परप्रकाशक नहीं है - तेरी मान्यता संबंधी ऐसा वर्णन पूर्वसूत्र में किया गया है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह ‘एकान्त से आत्मा परप्रकाशक है’ - इस बात का खण्डन है।

जिसप्रकार पहले १६२वीं गाथा में एकान्त से ज्ञान के परप्रकाशकपने का निराकरण किया गया था; उसीप्रकार आत्मा का एकान्त से परप्रकाशकपना भी निराकृत हो जाता है; क्योंकि भाव और भाववान एक अस्तित्व से रचित होते हैं। यहाँ ज्ञान भाव है आत्मा भाववान है।

पहले १६२वीं गाथा में यह बतलाया था कि यदि ज्ञान एकान्त से परप्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

अब यहाँ इस गाथा में ऐसा समझाया है कि यदि एकान्त से आत्मा परप्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा।

यदि आत्मा परद्रव्यगत अर्थात् आत्मा एकान्त से परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है तो आत्मा से दर्शन की अभिन्नता भलीभाँति सिद्ध होगी। अतः आत्मा स्वप्रकाशक भी है - यह सहज सिद्ध है।

जिसप्रकार १६२वीं गाथा में ज्ञान कथंचित् स्वपरप्रकाशक है - यह सिद्ध हुआ था; उसीप्रकार यहाँ आत्मा भी कथंचित् स्वपरप्रकाशक है - ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि अग्नि और उष्णता के समान धर्मी और धर्म का स्वरूप एक ही होता है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार १६२वीं गाथा में ज्ञान स्व को जानता है, यह निश्चय है और पर को जानता है, यह व्यवहार है - इसप्रकार ज्ञान का स्वपर-प्रकाशकपना सिद्ध हुआ था; उसीप्रकार यहाँ आत्मा का स्व को जानना तो निश्चय है और पर को जानना व्यवहार है; इसप्रकार आत्मा का स्वपरप्रकाशकपना निश्चित हुआ; क्योंकि अग्नि और उष्णता की तरह धर्मी और धर्म का स्वरूप एक होता है।

अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है; जिसप्रकार अग्नि ने उष्णतारूपी धर्म को धारण किया है; उसीप्रकार आत्मा ने जानने-देखने के स्वभावरूपी धर्म को धारण किया है; इसलिये आत्मा धर्मी है। धर्म और धर्मी एक हैं, भिन्न नहीं। अतः पर की और विकार की रुचि छोड़कर गुण-गुणी की एकता कर - यहाँ इसका यही भाव है।^१”

इसप्रकार हम देखते हैं कि न केवल इस गाथा में अपितु सम्पूर्ण प्रकरण में एक बात ही सिद्ध की गई है कि आत्मद्रव्य तो स्वपरप्रकाशक है ही, उसके साथ ही उसके ज्ञान व दर्शन गुण भी स्वपरप्रकाशक हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥२७९॥

(हरिगीत)

इन्द्रियविषयहिमरवि सम्यग्दृष्टि निर्मल आत्मा ।
रे ज्ञान-दर्शन धर्म से संयुक्त धर्मी आत्मा ॥
में अचलता को प्राप्त कर जो मुक्तिरमणी को वरें ।
चिरकालतक वे जीव सहजानन्द में स्थित रहें ॥२७९॥

ज्ञान-दर्शन धर्मों से युक्त होने से वस्तुतः आत्मा धर्मी है। सभी इन्द्रिय समूहरूपी हिम (बर्फ) को पिलघाने के लिए सूर्य समान सम्यग्दृष्टि जीव दर्शनज्ञानयुक्त आत्मा में सदा अविचल स्थिति को प्राप्त कर सहज दशारूप से सुस्थित मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार सूर्य विकसित होने पर बर्फ के टुकड़ों के समूह को नष्ट कर देता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से खण्ड-खण्ड ज्ञान का नाश करने के लिये सूर्य समान है।^२

‘मैं तो एकरूप स्वपरप्रकाशक आत्मा हूँ’ - ऐसी दृष्टि तो उसे है ही; परन्तु वह

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८८

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८९

उस आत्मा में पुरुषार्थ करके सदा अविचल रहने वाली स्थिति प्राप्त करता है। साधकदशा में शुभाशुभभाव आते हैं; परन्तु उनसे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि स्वभाव में अविचलरूप से लीनता करने से वह सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति पाता है, जो मुक्ति प्रगट हुई वह सहज अवस्थारूप से सुरक्षित रहती है। ज्ञानदर्शनमय आत्मा अनादि से था; परन्तु उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली मुक्ति की पर्याय अनादि की नहीं थी, वह तो नवीन प्रगट होती है। अभेद सामान्य स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति की प्राप्ति करता है।^१”

इस छन्द में यही कहा गया है कि ज्ञानदर्शनस्वभावी स्वपरप्रकाशक आत्मा में अविचल स्थिति धारण करनेवाले एवं पंचेन्द्रिय विषयोंरूपी बर्फ को पिलघाने में सूर्य के समान समर्थ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा सहज दशारूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

नियमसार गाथा १६४

अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि व्यवहारनय से ज्ञान और आत्मा के समान दर्शन भी परप्रकाशक है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥
(हरिगीत)

परप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा व्यवहार से ।

अर परप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा व्यवहार से ॥१६४॥

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए व्यवहारनय से दर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह व्यवहारनय की सफलता को प्रदर्शित करनेवाला कथन है। समस्त घातिकर्मों के क्षय से प्राप्त होनेवाला पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान; पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन परद्रव्य और उनके गुण व उनकी पर्यायों के समूह का प्रकाशक (जाननेवाला) किसप्रकार है ?

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३८९

ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर में कहते हैं कि 'पराश्रितो व्यवहारः - व्यवहार पराश्रित होता है' - आगम के उक्त कथन के आधार पर व्यवहारनय के बल से ऐसा है। तात्पर्य यह है कि आगम में व्यवहारनय से केवलज्ञान को परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) कहा गया है। इसीप्रकार केवलदर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक (पर को देखने वाला) है।

तीन लोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत एवं सौ इन्द्रों से वंदनीय कार्यपरमात्मा तीर्थंकर परमदेव अरहंत भगवान भी केवलज्ञान के समान ही व्यवहारनय से परप्रकाशक (पर को देखने-जाननेवाले) हैं। उसी के अनुसार व्यवहार नय के बल से उनके केवलदर्शन को परप्रकाशकपना (पर को देखनेरूप प्रकाशनपना) है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“तीर्थंकर के जन्मकल्याणक आदि प्रसंग में तीनों लोक में आनन्द मय हलचल हो जाती है। नरक के जीवों को भी उस समय शांति उत्पन्न होती है। तीर्थंकर की पुण्य प्रकृति का और जीवों की योग्यता का ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तथा तीर्थंकर सौ इन्द्रों से साक्षात् वन्दनीय हैं। वे तीर्थंकर कार्य परमात्मा हैं। त्रिकाली शक्ति को कारण परमात्मा कहते हैं, उसके अवलम्बन से जो केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट हुआ, उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं; उन तीर्थंकरों की आत्मा के, ज्ञान की तरह व्यवहारनय के बल से परप्रकाशकपना है अर्थात् पर में प्रवेश किये बिना ही वे लोकालोक को देखते-जानते हैं; जिससे व्यवहारनय के बल से भगवान का केवलदर्शन भी पर में प्रविष्ट हुए बिना लोकालोक को देखता है।”

गाथा और उसकी टीका में यह बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार व्यवहारनय से केवलज्ञान परप्रकाशक (पर को जाननेवाला) है; उसीप्रकार केवलदर्शन भी परप्रकाशक (पर को देखनेवाला) है।

इसीप्रकार जैसे व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक (पर को देखने-जाननेवाला) है; तैसे केवलदर्शन भी व्यवहार से परप्रकाशक (पर को देखने वाला) है।

इसके बाद 'तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ - तथा श्रुतबिन्दु में भी कहा है' - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यार्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः ।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम् ॥७९॥^१

(हरिगीत)

अरे जिनके ज्ञान में सब द्रव्य लोकालोक के।
इसतरह प्रतिबिंबित हुए जैसे गुंथे हों परस्पर॥
सुरपती नरपति मुकुटमणि की माल से अर्चित चरण।
जयवंत हैं इस जगत में निर्दोष जिनवर के वचन ॥७९॥

जिन्होंने १८ दोषों को जीता है, जिनके चरणों में इन्द्र तथा चक्रवर्तियों के मणिमाला युक्त मुकुटवाले मस्तक झुकते हैं और जिनके ज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ इसप्रकार ज्ञात होते हैं, प्रवेश पाते हैं; कि जैसे वे एक-दूसरे से गुंथ गये हैं; ऐसे जिनेन्द्र भगवान जयवंत वर्तते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि वे १८ दोषों से रहित हैं, लोकालोक के सभी पदार्थों को जानते हैं और इन्द्र व चक्रवर्ती उनके चरणों में नतमस्तक रहते हैं; वे जिनेन्द्र भगवान जयवंत वर्तते हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

(हरिगीत)

ज्ञान का घनपिण्ड आतम अरे निर्मल दृष्टि से।
है देखता सब लोक को इस लोक में व्यवहार से॥
मूर्त और अमूर्त सब तत्त्वार्थ को है जानता।
वह आतमा शिववल्लभा का परम वल्लभ जानिये ॥२८०॥

ज्ञानपुंज यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दृष्टि (दर्शन) होने से अर्थात् केवलदर्शन होने से व्यवहारनय से सर्वलोक देखता है तथा केवलज्ञान से सभी मूर्त-अमूर्त पदार्थों को जानता है। ऐसा वह भगवान आत्मा परमश्रीरूपी कामिनी का, मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ (प्रिय) होता है।

इसप्रकार इस छन्द में जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनकी स्तुति की गई है। शिववल्लभा (अत्यन्त प्रिय मुक्तिरूपी पत्नी) के अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) अरहंत भगवान सम्पूर्ण लोकालोक को केवलदर्शन से देखते हैं और केवलज्ञान से जानते हैं। इसप्रकार वे व्यवहारनय से सम्पूर्ण लोकालोक को देखते-जानते हैं।

नियमसार गाथा १६५

विगत गाथा में व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा के पर-प्रकाशकपने की बात की थी और अब इस गाथा में निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन आत्मा के स्वप्रकाशकपने की बात करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है-

गाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

(हरिगीत)

निजप्रकाशक ज्ञान सम दर्शन कहा परमार्थ से।

अर निजप्रकाशक आत्म सम दर्शन कहा परमार्थ से ॥१६५॥

निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) है; इसलिए निश्चयनय से दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक (स्वयं को देखने-जाननेवाला) है; इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह निश्चयनय से स्वरूप का कथन है। यहाँ जिसप्रकार स्व-प्रकाशनपने (अपने आत्मा को जानने) को निश्चयनय से शुद्धज्ञान का लक्षण कहा है; उसीप्रकार समस्त आवरण से युक्त शुद्ध दर्शन भी स्व-प्रकाशक (अपने आत्मा को देखनेवाला) ही है।

सर्व इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से आत्मा जिसप्रकार वस्तुतः स्वप्रकाशक

(स्वयं को जानने-देखने) रूप लक्षण से लक्षित है; उसीप्रकार बहिर्विषयपना छोड़ा होने से दर्शन भी स्वप्रकाशकत्व (अपने आत्मा को देखनेरूप) प्रधान ही है।

इसप्रकार स्वरूपप्रत्यक्षलक्षण से लक्षित आत्मा; अखण्ड, सहज, शुद्धज्ञानदर्शनरूप होने के कारण, निश्चय से, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप विषयों संबंधी प्रकाश-प्रकाशकादि विकल्पों से अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूप संचेतन लक्षण प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होने के कारण, निरन्तर अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दर्शन और ज्ञान दोनों का काम स्वप्रकाशकपना कहने से तो दोनों गुण एक हो जायेंगे?

नहीं; दोनों गुण भिन्न-भिन्न हैं और दोनों के कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं, दोनों का विषय भी भिन्न है। दर्शन का विषय सामान्य है और ज्ञान का विषय विशेष है। दर्शन का विषय अभेद है और ज्ञान का विषय भेद है। दोनों का स्वप्रकाशकपना कहा है; इसलिए दोनों एक नहीं हो जाते। उनकी अपनी-अपनी विशेषता कायम रहती है।^१

१. कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; परन्तु जो वर्तमान सामान्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं। उनकी यह मान्यता गलत है; क्योंकि वे अल्पज्ञ को सर्वज्ञ मानते हैं।

२. तथा कुछ लोग कहते हैं कि केवली भगवान लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं; अतः पर को जानते ही नहीं हैं, उनकी ऐसी मान्यता गलत है; क्योंकि वास्तव में केवली पर में तन्मय नहीं होते; अतः व्यवहार कहा है; परन्तु उनका लोकालोक को जानना तो यथार्थ है।

३. तथा कुछ लोग केवलज्ञान और केवलदर्शन का होना क्रमशः मानते हैं; यह भी गलत है; क्योंकि उनके दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।^२”

१६४ व १६५वीं गाथा में ज्ञान, दर्शन और आत्मा को समानरूप से परप्रकाशक एवं स्वप्रकाशक बताया गया है। इससे ऐसा लगता है कि जैसे तीनों का एक ही काम है, पर ऐसा नहीं है; क्योंकि ज्ञान स्व और पर को जाननेरूप प्रकाशित करता है, दर्शन देखनेरूप प्रकाशित करता है और आत्मा देखने-जाननेरूप

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३९५

२. वही, पृष्ठ १३९६

प्रकाशित करता है।

इसीप्रकार दर्शन सामान्यग्राही है, ज्ञान विशेषग्राही है और आत्मा सामान्य-विशेषात्मक पदार्थग्राही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इन गाथाओं में निश्चय-व्यवहारनय की संधिपूर्वक स्वपरप्रकाशी ज्ञान और आत्मा के माध्यम से दर्शन को स्वपरप्रकाशक सिद्ध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आत्मा के स्वपरप्रकाशनपने को आधार बनाकर दर्शन को स्वपरप्रकाशी सिद्ध किया गया है ॥१६५॥

इसके बाद टीकाकार एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः ।

एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ॥२८१॥

(हरिगीत)

परमार्थ से यह निजप्रकाशक ज्ञान ही है आत्मा।
बाह्य आलम्बन रहित जो दृष्टि उसमय आत्मा ॥
स्वरस के विस्तार से परिपूर्ण पुण्य-पुराण यह।
निर्विकल्पक महिम एकाकार नित निज में रहे ॥२८१॥

निश्चय से स्वप्रकाशक ज्ञान आत्मा है। जिसने बाह्य आलम्बन का नाश किया है - ऐसा स्वप्रकाशक दर्शन भी आत्मा है। निजरस के विस्तार पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है तथा पुरातन है; ऐसा आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चितरूप से वास करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चयनय से स्वप्रकाशक (स्वयं को जाननेवाला) ज्ञान और स्वप्रकाशक (स्वयं को देखनेवाला) दर्शन ही आत्मा हैं। निश्चयनय से स्व को देखने-जाननेवाला यह ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा पुरातन है, पवित्र है और अपने निर्विकल्पक महिमा में सदा मग्न है ॥२८१॥ ●

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के समस्त ऑडियो - वीडियो प्रवचन साहित्य एवं अन्य अनेक जानकारियों के लिये अवश्य देखें -
वेबसाईट - www.vitragvani.com
संपर्क सूत्र-श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
Ph.: 022-26130820, 26104912, E-Mail- info@vitragvani.com